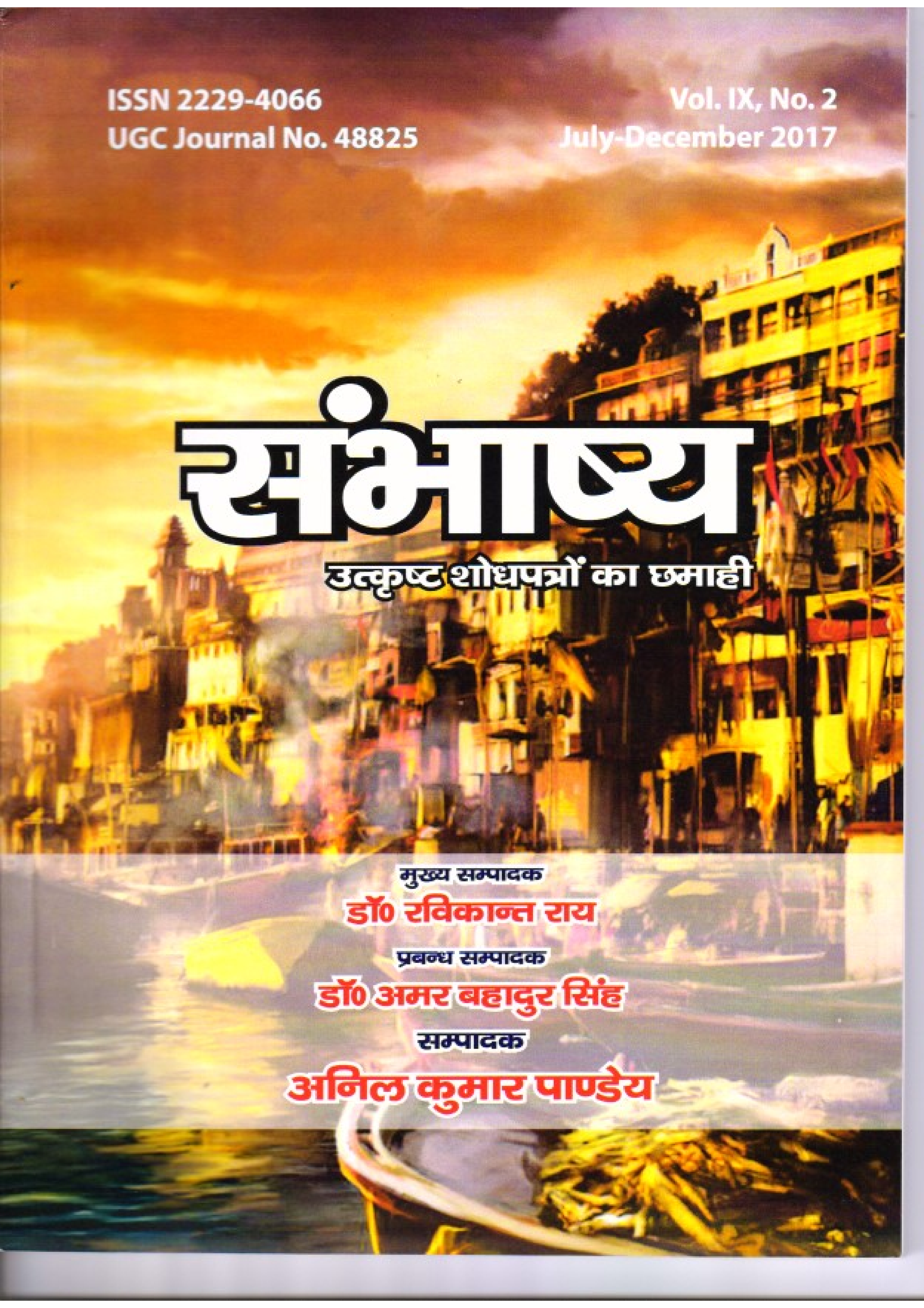

ISSN 2229-4066
UGC Journal No. 48825

Vol. IX, No. 2
July-December 2017

संभाष्य

उत्कृष्ट शोधपत्रों का छमाही

मुख्य सम्पादक
डॉ० रविकान्त राय
प्रबन्ध सम्पादक
डॉ० अमर बहादुर सिंह
सम्पादक
अनिल कुमार पाण्डेय

- हठयोगी कबीर
  डॉ0 बिपिन कुमार 63–66
- रघुवीर सहाय की कविताओं में राजनीतिक चेतना
  दुर्गेश तिवारी 67–69
- कृषि का नाश या सत्यानाश
  पार्थ 70–71
- महाकाव्य के पाश्चात्य लक्षण
  डॉ0 सुरीली पाण्डेय 72–75
- भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं योग
  डॉ0 रीना सिंह 76–79
- भाषाशिक्षणाय शिक्षावेदांगस्योपयोगिता
  शिवजी यादव 80–81
- वैश्विक शान्ति की परिकल्पना का आधार अतीन्द्रियता व नैतिकता रूपी धर्म–स्वामी विवेकानन्द के परिप्रेक्ष्य में
  प्रदीप कुमार बिश्वास 82–84
- महाकवि तुलसी साहित्य में राजनीतिक विचार
  जागृति द्विवेदी 85–87
- नयी कविता का युगबोध और रघुवीर सहाय
  डॉ0 उपमा राय 88–90
- उच्च–प्राथमिक विद्यार्थियों के लिये योग के आयाम एवं प्रभाव
  सूर्य प्रकाश गौड़ व डॉ0 दीपा मेहता 91–96

◆◆◆

SAMBHASHYA- ISSN 2229-4066
Published by : Akhil Bhartiya Sahitya
Samnvya Samiti, Varanasi, U.P. (INDIA)

UGC Journal No. 48825
Vol. : IX, No. : 2, July-December, 2017
Page No. : 88-90

नयी कविता का युगबोध और रघुवीर सहाय

***डॉ0 उपमा राय**

*पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, हिन्दी एवं भारतीय भाषा विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हरियाणा

नयी कविता के कवियों में रघुवीर सहाय सर्वाधिक समर्थ कवि के रूप में स्थापित हुए हैं। ये आधुनिक हिन्दी कविता की जनवादी और प्रगतिशील परम्परा में अलग पहचान रखने वाले कवि हैं। जिससे हिंदी कविता को एक नई ऊर्जा, चेतना और भाषा–शैली को एक नया आयाम प्राप्त हुआ। रघुवीर सहाय की कविताएँ नयी कविता के लिए एक नयी क्षमता का बोध कराता है। भारतीय इतिहास में वर्ष 1947 एक उल्लेखनीय पड़ाव है। यह वर्ष रघुवीर सहाय के लिए भी विशेष महत्वपूर्ण रहा है क्योंकि उन्होंने इसी वर्ष अपनी भावनाओं को 'कामना' शीर्षक कविता के रूप में व्यक्त किया है। 'कामना' इनकी पहली कविता है जिसे सहायजी ने सत्रह वर्ष की उम्र में लिखा है, यह संभवतः कहीं भी प्रकाशित नहीं हुई। रघुवीर सहाय की काव्य–यात्रा का प्रारम्भ 'आजकल' पत्रिका से ही शुरू होता है। रघुवीर सहाय की 'दूसरा सप्तक' में चौदह कविताएँ छपीं। 'बसंत' (1948), 'पहला पानी' (1948) तथा 'प्रभाती' (1948) में प्रकृति प्रेम बड़ी सहजता और जीवंतता से चित्रित है। रघुवीर सहाय की इन आरम्भिक कविताओं में छायावादी रूमानियत का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित किया जा सकता है। रघुवीर सहाय की इन कविताओं के बारे में सुरेश शर्मा लिखते हैं, ''इन कविताओं में सामान्य जीवन की सामान्य स्थितियाँ हैं, जिनके आधार पर कविताओं का सृजन किया गया है। इन दिनों यह बदलाव सिर्फ रघुवीर सहाय की कविता में ही नहीं आया था बल्कि उस समय के अधिकांश नये कवियों की कविताओं में आया था, जो कविताएँ 1950 के बाद 'नई कविता' के रूप में विकसित होनी शुरू हुई।''[1]

'दूसरा सप्तक' के कवि हिन्दी कविता के क्षितिज पर एक नये भाव कलेवर के साथ उदित हुए। बदलाव की इस पूरी प्रक्रिया के कारणों का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं, ''दूसरा सप्तक'' निकलने तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं...... जिन व्यक्तिगत और सामाजिक–राजनैतिक स्थिति–परिस्थितियों से 'तारसप्तक' वालों को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ दूसरे सप्तक वालों के पास न थी।''[2] नई कविता के स्वरूप और संवेदन पर स्वयं नये कवियों ने विचार नहीं किया बल्कि एक नया भाव रचने की कोशिश की, नयी कविता व्यष्टि और समष्टि दोनों का बोध कराती है। इन कविताओं में व्यक्तिवादी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है और मनुष्य को महत्त्व देने के साथ–साथ परिवेश के प्रति भी चेतना नयी कविता में दिखाई पड़ती है। आज समाज में सामाजिक, आर्थिक व नैतिक मूल्यों के विघटन से एक प्रकार की रिक्तता आ गयी है। मानव समाज के समक्ष नित नयी चुनौतियाँ आ रही हैं। समाज में कुंठा और अवसाद व्यापक स्तर पर पाँव पसार रहे हैं। इन स्थितियों को नयी कविता के कवियों ने पहचाना और इसको काव्यानुभूति के रूप में अभिव्यक्त भी किया है। मानव पतन की विद्रूपता की यह सच्ची तस्वीर कहीं वैचारिक, कहीं व्यंग्य और कहीं भावात्मक रूप में सामने आयी है। अज्ञेय, सर्वेश्वर, धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय आदि कवियों में इस बेचैनी को बखूबी देखा जा सकता है। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से समष्टि बोध को भी बहुत सघनता से अभिव्यक्त व्यक्त किया है। इनकी कविताओं में घर, परिवार, शहर, गलियां, चौराहे, रेस्तरां, फुटपाथ, प्लेटफार्म, विश्रामालय और क्लब आदि की सच्ची व व्यावहारिक तस्वीर देखने को मिलती है। अपनी विराटता और सूक्ष्म संवेदनाओं के आधार पर नयी कविता सामान्यजन के करीब पहुँचती है। स्वातंत्र्योत्तर काल की अधिकांशतः रचनाएँ आस्था, जिजीविषा और आशा से पूरिपूरित हैं। कुछ कविताओं में अनास्था का स्वर मिलता है तो वह मात्र ऐतिहासिक बोध के कारण मिलता है।

यथार्थ की वस्तुपरक व्यंजना, आस्था और अनास्था का द्वन्द्व, मोहभंग तथा प्रश्नाकूलता नई कविता में दृष्टिगत होती है। इन कविताओं में लोकजीवन की अनुभूतियों को बड़ी सहजता के साथ चित्रित किया गया है। साथ ही बिम्बों, प्रतीकों, उपमानों और शब्दों को भी इसी लोक जीवन से लेकर अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। नयी कविता की भाषा एकायामी या एक रेखीय नहीं है। जीवन की जटिलताओं और परिस्थितिजन्य विविधता के कारण भाषा में भी परिवर्तन दिखायी देता है। रघुवीर सहाय की भाषा नयी कविता के कवियों में अलग प्रतीत होती है। उनकी भाषा को 'खबर की भाषा' कहा गया है तो कुछ आलोचकों की दृष्टि में उनकी कविता सपाटबयानी है। वस्तुतः हर कविता सबसे पहले एक खबर होती है और बाद में वह कलात्मक आवरण और संवेदनाओं से आच्छदित होकर कविता का कलेवर ग्रहण करती है। परिस्थित के अनुकूल बिम्बों और प्रतीकों का चयन नयी कविता की विशेषता रही है। इस संबंध में डॉ0 नगेन्द्र का मत है, ''नयी कविता जीवन के नये संदर्भों में उभरने वाली अनुभूतियों, सौन्दर्य–प्रतीतियों और चिंतन–आयामों से सम्पृक्त बिम्ब ग्रहण करती है। शहरी कवि के बिम्ब विशेष तथा नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवन–संस्कारों से युक्त कवि के बिम्ब विशेष तथा गाँव के होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के बिम्ब नयी कविता में हैं। नयी कविता ने अपने बिम्ब और प्रतीक पुराण और इतिहास से भी चुने हैं; लेकिन उन्हें नये अर्थ और सन्दर्भ से सम्पन्न किया है।''[3]

आज समाज में मनुष्य उपेक्षित हो रहा है। उसकी भावनाओं– संवेदनाओं का हनन होता जा रहा है। उसकी मूल प्रवृत्ति स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया गया जिससे मानव को बहुत ठेस पहुंचा है। नयी कविता के संदर्भ में जब लघुमानव की बात उठायी जाती है तब नई कविता के 'लघुमानव' को भी जीवन की सम्पूर्णता के संदर्भ में ही देखना होगा। 'लघुमानव' से तात्पर्य है कि वह

सामान्य मानव जो अपनी सारी संवेदन, भूख–प्यास और मानसिक बोध को लिए हुए उपेक्षित था। वह अपने भीतर समेटे जीवन की सारी व्यापकताओं के लिए आगे बढ़ रहा है। नयी कविता का कवि जब लघुमानव की बातें करता है तो किसी विशेष सिद्धांत या दर्शन की दृष्टि से नहीं या राजनैतिक कारणों की दृष्टि से नहीं वरन कवि की सहज मानवीय संवेदना और आधुनिक यथार्थ दृष्टि से अपने सभी रूपों में दिखाई पड़ने वाला जीवित मनुष्य है। यह मनुष्य किसी वर्ग का नहीं है सभी वर्गों का है, जो जीवन के दर्द को ईमानदारी से कहता है जितनी ईमानदारी से सुख के छोटे से छोटे स्तर पर आनन्द और उल्लसित होता है। 'लघुमानव' को नयी कविता के केन्द्र में रखकर ही अन्य मूल्य को स्थापित किया गया है।

नयी कविता के 'लघुमानव' के संदर्भ में रघुवीर सहाय के विचार अलग हैं। 'लघुमानव' के विषय में रघुवीर सहाय लिखते हैं, ''प्रत्येक गंभीर और अकृत्रिम आधुनिक कलाकार उस विराट दायित्व के प्रति जागरूक है जो जीवन की परम्परा ने उस पर डाला है। यह इसी विराट परिवेश का बोध है, जिससे वह प्रत्येक साधारण मानवीय घटना या मानवीय इकाई में जीवन को पूर्णताः प्रतिबिंबित देख पाता है। छोटा आदमी बराबर छोटा परिवेश नहीं है। छोटा आदमी आसानी भी नहीं है। उसको कलात्मक सामग्री के रूप में उपयोग करना बहुत बड़ा काम है और प्रसंगवश बहुत बड़े विराट को समझना है।''[4]

नयी कविता के कवियों ने क्षण को भी महत्ता प्रदान की है। आज का क्षणवादी और लघु मानववादी दृष्टि जीवन के मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक या स्वीकारात्मक है। 'क्षण' को जीवन में विशेष महत्ता दी गयी है। क्षण–क्षण की संवेदनाएँ ही मिलकर सम्पूर्ण जीवन को हार्दिकता के साथ स्वीकार करती है।

क्षण की यह संवेदना व्यक्ति को बदल देती है। व्यक्ति में गतिशीलता आती है और इन्हीं परिवर्तनों के कारण व्यक्ति जीवन के प्रति आस्थावान बनता है, और इन्हीं संवेदनाओं के कारण जीवन अस्तित्ववान होता है। रघुवीर सहाय में भी अपनी कविता में 'क्षण' को विशेष महत्व दिया है। क्षणों की अनुभूमि में ही सम्पूर्ण जीवन की अनुभूति समाहित है। क्षण के महत्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि किसी चीज़ को हम क्षण विशेष में ही अनुभव करते हैं और उस अनुभव को व्यापक धरातल पर अभिव्यक्ति करते हैं। रघुवीर सहाय ने एक कविता में इस 'क्षण' को अभिव्यक्त किया है, ''माथे मुकुट व्यथ का बांधे / इस क्षण की महिमा से मंडित / .... हे प्रिय, हे जीवित पल! क्षण में जी ले तब आगामी क्षण तक पहुंच दें।''[5] रघुवीर सहाय ने 'क्षण' को अतीत और भविष्य से नहीं जोड़ा है बल्कि क्षण से उनका तात्पर्य परम्परा से है। इस सम्बन्ध में सुरेश शर्मा कहते हैं, 'निश्चय ही क्षण की सत्ता अतीत और भविष्य के बीच के काल की निरन्तरता से असम्बद्ध नहीं है। उस क्षण की महत्ता का उचित आंकलन अतीत और भविष्य के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है और तभी उसमें सार्थकता भी उत्पन्न हो सकती है।''[6]

रघुवीर सहाय यथार्थ को अमूर्त नहीं मानते बल्कि उसे मूर्त मानते हैं। यह यथार्थ मानवीय जीवन से जुड़ा हुआ है। मानव की संवेदना, समस्या और विवशताएँ यथार्थ से जुड़ी हुई हैं। रघुवीर सहाय के यहाँ यथार्थ का यही रूप दृष्टिगोचर होता है। रघुवीर सहाय की दृष्टि आधुनिक भावबोध की ओर ले जाती है। इस आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में मानव विशिष्टता और व्यक्ति स्वातंत्र्य है। सहायजी आधुनिकता को इतिहास सापेक्ष मानते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत है, ''इतिहास के आगामी चरण को रूपायित करने की और इसी चरण को द्रुततर बनाने की प्रक्रिया है।''[7] इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध का विचार था कि ''नई कविता की आत्मा है आधुनिक भावबोध।''[8]

इस आधुनिक भावबोध वर्णन के पश्चात् 'नई कविता' के वस्तु–तत्व में 'अनुभूति' और 'ईमानदारी' पर दृष्टि डालना भी आवश्यक है। नयी कविता के संदर्भ में गैर–मार्क्सवादी लेखकों का जो अनुभूति के प्रति आग्रह था वह प्रगतिवादी विचारकों के प्रतिक्रिया में था। उनका विचार था कि समूचा साहित्य रचने का आधार साहित्यकार की निजी अनुभूति है।

सहायती जब 'ईमानदारी' पर लिखते हैं तो मात्र राय देकर उस देकर उस प्रसंग को छोड़ नहीं देते बल्कि आगे उसे और भी स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखते हैं, ''जनजीवन के विकासोन्मुख तत्वों से अपने को 'सक्रिय सम्बद्ध' न करने के कारण ऐसे लेखक अपनी मौलिक ईमानदारी के बावजूद खो गए क्योंकि उन्होंने ईमानदारी के बाद भी अपने व्यक्ति की झूठी आत्मसत्ता नहीं त्यागी, विराट इतिहास की सक्रिय शक्तियों में अपने को समाहित नहीं किया।''[9] इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ईमानदारी' और 'अनुभूति' का नयी कविता में विशिष्ट महत्त्व है। 'अनुभूति' की सार्थकता ही नयी कविता की सृष्टि कर सकती है। इस प्रकार ध्यातव्य है कि नई कविता के संदर्भ में उसकी वस्तुस्थिति में रघुवीर सहाय का मत अपने समय के कवियों से बहुत भिन्न नहीं है। वे मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े नहीं थे, बावजूद इसके यथार्थता उनकी कविता का केन्द्रीय स्वर है। बदलते परिवेश के अनुसार नयी कविता के रूप विधान में भी परिवर्तन आया। उसमें पुरानी परम्परागत शिल्प विधान की छाया तो मिलती है किन्तु साथ ही कुछ नवीनता का भी बोध होता है। वैसे सामान्यतः नयी कविता की रूप–छवि प्रगतिवाद से बहुत हद तक मिलती है। किन्तु अंतर सिर्फ इतना है कि नयी कविता का भाव–विस्तार चूँकि प्रगतिवाद से विस्तृत है इसलिए नयी कविता का भाषिक वितान भी विस्तृत है। नयी कविता किसी वर्ग विशेष, सम्प्रदायविशेष, जाति विशेष को अपनी सीमा मानकर नहीं चली, इसीलिए मानवजीवन के प्रत्येक पहलू से यहाँ शब्द–प्रयोग दिखते हैं। इसी कारण नयी कविता एक नये रूप विधान को लेकर चली है।

नयी कविता की संरचना और शिल्प भी नयी है। यह पद्य की अपेक्षा गद्य के अधिक निकट है। अतः इसके शिल्प में भी नयापन दिखाई पड़ता है। वास्तव में नयी कविता का शिल्प विधान चमत्कार न होकर जीवन–सत्य का साक्षात्कार है। साथ ही, परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ती प्रतीत होती है। यही नहीं, जीवन–सत्य के साक्षात्कार के कारण नयी कविता शिल्प नियमों को तोड़कर रूढ़िगत परम्पराओं का विरोध कर वस्तुगत अनुभूति की कुंठा रहित अभिव्यक्ति है। नयी कविता का यह नयापन जीवन के तत्वों के प्रति नयी अभिरूचि का विकास करती है। कहा जा सकता है कि नयी कविता की शिल्पगत नवीनता विषय के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित करती है। नयी कविता परम्परा को रूढ़ि के रूप में स्वीकार न कर नयी प्रेषणीयता का आग्रह रखती है और काव्यकला में परम्पराओं को

नये रूप में ग्रहण करती है। नयी कविता के बिल्कुल आरम्भ में ही 'नये पत्ते' की एक टिप्पणी में रघुवीर सहाय की स्पष्ट राय थी कि अपनी रचना में, "वह सत्य जो हम पाएँगे हमारा होगा, पर (वास्तव में) वह हमारा तभी होगा जब वह (सिर्फ) हमारा नहीं रह जाएगा।"[10]

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि स्वानुभूति को सहानुभूति की सापेक्षता में देखने का यह प्रयास रघुवीर सहाय को नयी कविता की परिधि से भी बाहर भी ले आता है और अनुभूति एवं अभिव्यक्ति, दोनों स्तरों पर नयी कविता के दौर में एक आत्मसंघर्ष के साथ साठ के बाद के समय में सामयिक यथार्थ को अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।

सन्दर्भ :

1. शर्मा, सुरेश, रघुवीर सहाय का कविकर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 3
2. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 34
3. डॉ0 नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 633
4. सहाय, रघुवीर, कल्पना पत्रिका, वर्ष 5 1958, पृ0 2
5. सहाय, रघुवीर, सीढ़ियों पर धूप में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 130
6. शर्मा, सुरेश, रघुवीर सहाय का कविकर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 20
7. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, नयी कविताएँ : एक साक्ष्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 46
8. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 40
9. सहाय, रघुवीर, सीढ़ियों पर धूप में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 254–256
10. सहायक, रघुवीर, सीढ़ियों पर धूप में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 18

♦♦♦

ISSN: 2347-4491
UGC Journal No. 49095
IIJF Impact Factor: 2.382

Vol. 6 No. 2 Issue-2 April - June, 2018

अयन् Ayan

An International Multi-Disciplinary Quarterly Refereed Research Journal

Editor-in-Chief
Dr. Bindu Bhushan Upadhyay

Executive Editor
Dr. Vikramaditya Rai

Managing Editor
Dr. Neeraj Kumar Rai

Editors
Dr. Vikash Kumar
Dr. Kumar Varun

❖ आत्महत्या के विरुद्ध : प्रतिरोध की संस्कृति
डॉ. उपमा राय 155-158
❖ तेन्दुखेड़ा तहसील की सूर्य प्रतिमाएँ
उमेश चन्द्र पाण्डेय 159-162
❖ **Final particles in Southern Thai Dialect (Paktai Language)**
Phra Phithak Faengkot 163-172
❖ दलितों के आरक्षण व संरक्षण, विशेष बिहार के संदर्भ में
कविता कुमारी 173-177
❖ प्राचीन नालन्दा महाविहार : पुरातात्त्विक पुनर्मूल्यांकन
संजीव कुमार 178-180
❖ तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास में पाटलिपुत्र का योगदान
सुधा सिंह 181-184
❖ मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन एवं जातीय समरसता
डॉ0 पूनम कुमारी 185-189
❖ सिद्ध साहित्य और हिन्दी साहित्य का आदिकाल
डॉ. राहुल सिद्धार्थ 190-194
❖ माध्यमिक विद्यालय में जनसंख्या शिक्षा का महत्व
होशिला प्रसाद 195-197
❖ मौखिक परंपरा : इतिहास लेखन के मूल्यवान स्रोत
डॉ0 अमिया आनन्द 198-201
❖ उत्तर प्रदेश के सोनघाटी क्षेत्र का इतिहास
अभिषेक कुमार गुप्ता 202-209
❖ रोटी को बेनकाब करती समकालीन कविता
मानवेन्द्र कुमार तिवारी 210-214
❖ **Geographical Senario of Ranchi City**
Pradip Kumar Singh 215-220
❖ प्रसिद्ध धार्मिक स्थल "पहाड़ी मंदिर", राँची : एक ऐतिहासिक अध्ययन
डॉ0 मनोज कुमार साव 221-225
❖ **Collaborative Learning : Shiftingfocus from the Individual to the Society in Education**
226-231
Ms. Roma Singh
❖ **Pesa, Fra, and The Birhor Economy: 2001-2017**
Prabhat Ranjan 232-235
❖ वैशाली के उत्खनन से प्राप्त प्रमुख मृण्यमूर्तियाँ
डॉ. अखिलेश कुमार सिंह 236-238
❖ सम्पूर्ण क्रान्ति एवं सर्वोदय की खोज में जयप्रकाश नारायण का चिन्तन
239-241
आशुतोष कुमार सिंह
❖ नफरत भाषण : एक समकालीन सामाजिक समस्या
आशुतोष कुमार सिंह 242-244
❖ **A discourse on the condition of Ho women in Kolhan Government Estate: continuity and change**
245-249
Aatish Ranjan

आत्महत्या के विरुद्ध : प्रतिरोध की संस्कृति

डॉ. उपमा राय

पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता का के समक्ष स्वाधीनता के पहले से बिलकुल ही भिन्न परिस्थियाँ थी। बदली हुई परिस्थितियों में शब्दों के अर्थ और कर्म में भी परिवर्तन हुए; शब्दों के 'तात्पर्य' व अभिप्राय में परिवर्तन हुआ। प्रतिरोध का आशय और उद्देश्य भी आंशिक रूप से परिवर्तित हुआ क्योंकि स्वतंत्र भारत में साम्राज्यवाद की तरह कोई स्पष्ट शत्रु सामने नहीं था। इसलिए, प्रतिरोध शब्द पर विचार करते हुए इससे निकलने वाली अर्थ–छवियों को स्पष्ट करना आवश्यक है। क्या प्रतिरोध विरोध मात्र है? अगर ये सिर्फ विरोध मात्र है तब इसमें कलात्मकता या रचनात्मकता कि उपस्थिति कितनी है? साहित्य कला का एक रूप है, यह सर्वविदित तथ्य है। कला का कोई भी रूप अपने मूल अर्थों में रचनात्मक होता है। ऐसी स्थिति में प्रतिरोध का आशय सिर्फविरोध या विध्वंस नहीं हो सकता। किसी भी जीवन स्थिति या व्यवस्था या परम्परा का जब प्रतिरोध होता है तब वह बेहद रचनात्मक होता है। हम कह सकते है कि प्रतिरोध का अर्थ है– 'जो भी जीवन स्थितियां हैं, व्यवस्थाएँ हैं, प्रचलित अवधारणायें हैं, उन सबसे बेहतर प्राप्त करने की कोशिश करना।' इस प्रकार प्रतिरोध कलारूप में भी बेहद रचनात्मक हो जाता है।

यह माना गया है कि प्रत्येक रचनाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। फिर भी,रचना की सहजता, प्रभावान्विति, भाव–प्रवणता, उद्देश्यपरकता का स्थायी प्रभाव प्रतिरोध की सघनता में प्रतिबिंबित होता है। आधुनिक जीवन स्थितियोंमें स्वतन्त्रकामी वैचारिक आन्दोलन प्रवाहमान हुए व्यक्ति स्वातंत्र्य से लेकर सामाजिक स्वांत्र्य की जनापेक्षिता सिलसिलेवार ढंग से बढ़ी। पराधीन भारत में कलाकार और साहित्यकार अनेक मोर्चों पर सक्रिय थे। लेकिन उसके समक्ष साम्राज्यवाद सबसे बड़ा शत्रु था। जिससे वह लोहा लेता है। स्वाधीन भारत में लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना ने कवियों, लेखकों, कलाकारों को जनता से सम्प्रिक्त किया। इस जनापेक्षी भावना ने ही प्रतिरोध की चेतना को दिन–ब–दिन सशक्त बनाया। ये रचनाकार अपनी जीवन–स्थतियों, राजनीतिक दुरुहताओं, सामाजिक अंतर्विरोधों से असन्तुष्ट होते हुए एक नये समाज की रचना के प्रति उत्कंठित है। पूंजीवादी सभ्यता, शहरीकरण आदि ने भारत की ग्रामीण व्यवस्था एवं परम्परागत संसाधनों को झकझोरकर रख दिया। कलाकार, कवि, लोक कल्याणकारी राज्य के बीच से लोक को गायब होता देखकर उस 'लोक' की स्थापना में तल्लीन हो गया।

सन 60 के बाद कविता का विषय राजनीति पर केन्द्रित हो गया। रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध' संकलन हिंदी कविता में अपना उल्लेखनीयस्थान रखता है। यह संकलन लोकतंत्र के इतिहास में प्रतिपक्ष की स्थापना करता है। 'आत्महत्याके विरुद्ध' शीर्षक का स्पष्ट अभिप्राय क्या है? कवि के इस आशय के मान को स्पष्ट करना आवश्यक है। 'आत्महत्या' शब्द से कवि का अभिप्राय यह है कि वर्तमान भारतीय लोकतंत्र में श्रमजीवी नागरिक, उत्पादनकर्ता की हत्या वर्ग शत्रुओं द्वारा नहीं की जा रही है, बल्कि वह अपनी आत्महत्या हर क्षण खुद कर रहा है क्योंकि वह राजनीतिक चेतना से शून्य है और क्रांति की राह से विमुख है।

यहाँ शीर्षक का दूसरा शब्द है 'विरुद्ध' कवि भारतीय नागरिकों के सामने एक बड़ी चुनौती अपनी कविता द्वारा रख रहे हैं कि क्या नागरिक इसी तरह भीड़ बना रहेगा और सदैव अपनी आत्महत्या करता रहेगा या इन सारी परिस्थितियों का विरोध करेगा और अपने जीवन की रक्षा करेगा? कवि ने इन परिस्थितियों के विरुद्ध जंग की शुरुआत की है। एक तरह से प्रतिरोध किया है। कवि ने लोकतंत्र की विडम्बना के विरुद्ध एक तरह की प्रतिरोध की संस्कृति चलायी है। 'प्रतिरोध की संस्कृति'–अर्थात आज के दौर की पूरी संस्कृति को कवि प्रतिरोध की संस्कृति कहता है और आज जो समाज में संस्कृति चारो

ओर फैली हुई है। समाज में आदिम अर्थव्यवस्था, गरीबी और गुलामी का निकृष्टतम रूप, असीम शोषण तथा अमीर और गरीब के बीच इतनी चौड़ी खाई है। वर्ग–संघर्ष और राजनीतिज्ञों का पूरे समाज पर शासन करना तथा प्रत्येक सामान्य मनुष्य पर शक्तिशाली वर्ग का दबाव ही आज की संस्कृति है। इस संस्कृति के विरुद्ध ही कवि का स्वर मुखरित हुआ है। आज जो तथा कथित संस्कृति फैशन की तरह अपनायी जा रही है। इसके विरुद्ध कवि के मन में संताप है। एक गहराक्षोम व्याप्त है। उस पीड़ा, कष्ट को कवि अपने शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है।साधारण मनुष्य की दयनीय स्थिति, लोकतंत्र की हास्यास्पद स्थिति, राजनीति, कूटनीति, रोज़ थोड़ा–थोड़ा मरते हुए मतदाता की क्लेश कथा, देश को अंधकार के कुँए में ढकेलते हुए नेताओं के प्रति अत्यधिक आक्रोश–इस प्रकार राजनीति को ही अपना विषय बनाकर कवि ने पूरे समाज की सच्चाई को अभिव्यक्त किया है। आज की राजनीति के विरुद्ध कवि का जंग है। यह जंग स्वयं उनका नहीं वरन सामान्य जन कीजंग है। आज राजनीति में जो क्रूरता और भ्रष्टाचार व्याप्त है उसी के प्रतिरोध में कवि का आह्वान है। एक प्रकार से यह प्रतिरोध की संस्कृति है।

रघुवीर सहाय 'दूसरे सप्तक' अर्थात 1952 से सुप्रसिद्ध कवि के रूप में ख्याति अर्जित करते हैं। यह समय भारतीय इतिहास में अनेक टकराहटों का समय है और आजादी के प्रतिफल की राह को लेकर संवेदनशील मनुष्यों की चिंता का भी समय है। रघुवीर सहाय की कविता जनमानस की कविता है। रघुवीर सहाय की कविताएँ भविष्य में आने वाले संकटों की ओर इशारा करती हैं। इन सभी संकटों और राजनीतिक परिस्थितियों को पूरी तरह कविता का विषय बनाकर प्रस्तुत करने वाले रघुवीर सहाय एक समर्थ रचनाकार है। जो भारतीय लोकतंत्र में बढ़ रही कठिन परिस्थितियों को अपनी कविता में प्रस्तुत किया है।

समाज को क्रूर व्यवस्था में रोज़ रोज़ थोड़ा–थोड़ा मरते हुए लोगों का चित्र इस कवि की कविताओं में हर जगह दिखाई पड़ती है।

"रोज–रोज थोड़ा–थोड़ा मरते हुए लोगों का झुंड
तिल–तिल खिसकता है शहर की तरह।"[1]

सहायजी ने समाज में व्याप्त खोखलेपन और भ्रम को सफलतापूर्वक पकड़ते हैं तथा व्यवस्था के निरंतर मनुष्य विरोधी हो जाने की सूचना भी देते हैं जो हमें एक अप्रत्याशित दहशत की दुनिया में धकेलती जा रही है।इस सन्दर्भ में सुरेश शर्मा लिखते हैं," 'आत्महत्या के विरुद्ध' कविता की संरचना इस तरह की हैकि कवि बार–बार अन्याय और घुटन की स्थिति से निकलकर वहीं लौटता है जहाँ उसके अपने लोग हैं।"[2]

सातवें दशक में रघुवीर सहाय की समस्त संवेदना प्रतिपक्ष के कवि की संवेदना है। राजनीति प्रतिनिधि के निकम्मेपन पर कवि व्यंग्य करता है। कवि रघुवीर सहाय का काव्य–संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' में व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पक्षों को लेकर तीखा व्यंग्य किया गया है। सहायजी व्यंग्य के माध्यम से वे अपने तनाव को दूर करने में सफल हुए हैं। इस सन्दर्भ में विजय कुमार लिखते हैं,"उनके हिसाब से मुश्किल मन में घुमड़ती रहे तो कविता के हित में भी है और जनता के हित में भी।"[3]

कवि अपने आप को सदैव उन लोगों के पक्ष में पाता है जो व्यवस्था में वंचित रह जाते हैं। वे लोकतंत्र की विसंगतियों को उजागर करते हैं। कवि ने मतदाता की विवशता को स्वर दिया है कि किस प्रकार मतदाता असहाय होकर अपना मत भी विवश होकर दे रहा है। कवि ने लोकतंत्र में निरीह मतदाता की इस दशा को चित्रित किया है,

"देश की व्यवस्था का विराट वैभव
व्याप्त है/चारों ओर
एक कोने में दुबक ही तो सकता हूँ/
सब लोग जो कुछ रचाते हैं/उसमें
केवल अपना मत नहीं दी ही तो सकता हूँ/
वह मैं करता हूँ/किसी से नहीं डरता हूँ/
अपने आप और बेकार।"[4]

रघुवीर सहाय जैसे कवि का व्यक्ति कई प्रश्नों से टकराता है। कवि लाखों मनुष्यों के दर्द को जानता है और उन पर लगातार कवि की नजर है। कवि बराबर आम आदमी के अकुशल जीवन को लेकर चिंतित है।समाज की इस संस्कृति को अच्छी तरह जानता है। जो संस्कृति समाज के विरुद्ध है फिर भी उसी संस्कृति का बोलबाला व्याप्त है। कवि आम आदमी के जीवन के कठिन संघर्षों के साथ है। कवि जनता के संघर्षों की लय में अपने की लय को समाहित कर देता है। जनता की लड़ाई को कवि अपनी कविता के माध्यम से लड़ता है। राजनीति के प्रति कवि का विरोध कोई विरोध नही है अपितु उसके प्रति दृष्टिकोण अलग तरह का है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा है, "रघुवीर सहाय की कविता को राजनीतिक कविता कहा गया है। पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि उनकी कविताओं में किसी खास राजनीतिक मतवाद की गंध नही मिलती। वे न तो किसी दल का समर्थन करती हैं न किसी वाद का प्रचार। वे केवल आज के भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र में जीते–मरते आदमी की पीड़ा का चित्रण करती है। यही रघुवीर सहाय की कविता की असली जमीन है। दरअसल राजनीतिक कविता लिखना बड़ा कठिन होता है– सीधा राजनीतिक या क्रांतिकारी होने से भी कठिन।"[5]

कोई भी कवि समाज निरपेक्ष नही हो सकता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण वह सामाजिक समस्याओं से दो–चार होता रहता है। रघुवीर सहाय ने अपने समय के जटिल समाज को पूरी तरह अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है। इस कारण कवि की कविताएँ हर प्रकार की हिंसा के विरोध में अपने मत को दर्ज कराती हैं; चाहे वह आत्महत्या ही क्यों न हो।आज आम जनता शोषण का शिकार बनी हुई है। वह शोषण के चंगुल में फंसकर रोज–रोज यातना सहकर कार्य कर रही है। फिर भी पेटभर अन्न–वस्त्र नहीं प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति रोज ही अपने हाथों अपना गला दबाकर आत्महत्या ही कर रहा है। आम आदमी अपने अधिकारों के लिए आवाज़ न उठाकर उसमें घुट–घुट कर जीता हुआ स्वयंही अपनी हत्या कर रहा है। इस शोषण के कारण उपजी आत्महत्या की संस्कृति के विरोध में रघुवीर सहाय खड़े होते हैं। आमजनता को आवाज उठाने के लिए ललकारते है। वे जनता को विरोध करने के लिए प्रेरित करते हैं।

सन' 60 के बाद रघुवीर सहाय की कविताओं में प्रतिरोध की एक संस्कृति के रूप में पुष्पित–पल्लवित हुआ है। इस संस्कृति का क्रमिक विकास उनकी कविताओं में मिलता है। इसके प्रतिरोधी संस्कृति की के पीछे जटिल सामाजिक यथार्थ है। रघुवीर सहाय बीते वर्षो की बात करते हैं। वह विश्वास और धोखा के बीच अंतरको स्पष्ट करते हैं,

"टूटते–टूटतेजिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीससाल
धोखा दिया गया
यही मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को।"[6]

कवि मौजूदा व्यवस्था को ध्यान में रखकर अविश्वासनीयता की स्थिति का आकलन करता है। उसकी दृष्टि में इस स्थिति का जिम्मेदार अकेले तंत्र नहीं है अपितु उसमें जनता की भी उतनी ही भागीदारी है। कवि कहता है कि हमें सोच समझ कर निर्णय लेना चाहिए; राजनीति के मंच पर नित्य नये लोग प्रकट होते रहते हैं। सामान्य जनता का फ़र्ज़ है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के बहकावें में न आए बल्कि अपने तर्कशक्ति के आधार पर कोई निर्णय ले, "यह मै खड़ा हूँ। भरापूरा एक आदमी। आठ दस सफेद बाल। आठ दस अधूरे स्वप्न। मक्कार बूढ़ों की परिषद् में। एक खतरनाक बात। कहकर बैठ जाऊंगा।"[7]

छायावादी रचनाकारों की भांति रघुवीर सहाय आम जनता को सुनहरा स्वप्न नहीं दिखाते हैं बल्कि वे अपने कवि होने पर अपने दायित्वों का आत्मबोध करते हैं। समाज में कवि की क्या भूमिका होनी चाहिए? एक कवि का क्या कर्त्तव्य होता है? रघुवीर सहाय स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर तलाशते रहते हैं और इन प्रश्नों को कवि–कर्त्तव्य की कसौटी के रूप में स्वीकार भी करते हैं। सहायजी वर्तमान सामाजिक विडम्बनाओं को उभारते एवं दहशत और आतंक के जूझते साधारण मनुष्य के संघर्ष को व्यक्त करते हैं। अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध तथा सामान्य मनुष्य की मानसिकता को विश्लेषित करते हैं।

वास्तव में, उनका कविकर्म अपने समय की भयावह सच्चाई को एक नये धरातल पर मूर्त करने की प्रक्रिया है। मानवीय करुणा और नैतिकता का सम्बन्ध गहरा होता है। मनुष्य एक सामाजिक व विचारशील प्राणी है। नीति या आदर्श व्यक्ति–व्यक्ति के परस्पर संबंधों में ही चरितार्थ होता है। सातवें और आठवें दशक में रघुवीर सहाय की कविता में एक करुणा का स्थायी भाव है। इनकी कविताओं में स्त्री की जीवंत, संवेदनशील, मानवीय सत्ता रूपयित होती हुई दीखती है। उनके यहाँ स्त्री के माँ, बहन, बेटी, पत्नी, कामकाजी महिला के रूप में सहज, विवशता भरे और हृदयस्पर्शी अनुभव को अभिव्यक्ति मिली है। "बस में चढ़ती स्त्री" शीर्षक कविता के माध्यम से नारी की असहाय दशा को हमारे सामने लाते हैं,

"बच्चा गोद में लिये/चलती बस में/चढ़ती स्त्री/और मुझ में कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।"[8]

किसी भी सभ्य समाज की कसौटी है कि उसमें स्त्रियाँ, बच्चे और बुजुर्ग कितने खुशहाल और सुरक्षित हैं। जबकि हकीकत यह है कि स्त्री और बच्चे वर्तमान समाज में सबसे कमजोर स्थिति में हैं, जो अमानवीयता सर्वप्रथम ग्रास बन जाते हैं। रघुवीर सहाय ने स्त्री और बच्चे को लेकर जहाँ मनुष्य की कोमल संवेदनाओं को मूर्त किया है वहींसमाज की अंदरुनी ढांचे में व्याप्त अमानवीकरण की प्रक्रिया को भिन्न–2 रूपें में मूर्त किया है। सहायजी 'बड़ी हो रही है लड़की', 'अभी तक खड़ी स्त्री' शीर्षक जैसी रचनाओं में जहाँ अमानवीय शक्तियों की सूक्ष्म क्रियाओं के दबाव को दिखाया है।

रघुवीर सहाय ने स्त्री और बच्चों को माध्यम बनाकर समाज में स्थिर क्रूरता, जुल्म, बेबसी की सूक्ष्म बानगी प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

उनके यहाँ राजनीतिक सच्चाइयां सामान्य मनुष्य के जीवन के दैनिक यथार्थ राजनीति और समाज शासन के भीतर व्याख्यायित होने वाले यथार्थ के इकहरे बोध का अतिक्रमण करती हैं। कवि का प्रतिरोध समाज के भयावह रूप के प्रति है।

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को समाज की उपभोक्ता संस्कृति के रूप को अपनाया जा रहा है। रघुवीर सहाय की रचनाकला इस जनविरोधी संस्कृति के विरुद्ध है। कवि यथार्थ के सहज रूप के चित्रण के भी विरुद्ध हैं। इनकी कविता में सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यहीनता से लड़ने का अत्यंत गहराभाव परिलक्षित होता है। इनकी कविता सोद्देश्य है और किसी न किसी मूल्य की व्यंजना भी। यही कारण है कि उन्होंने जीवन में सफलता की अपेक्षा सार्थकतापर विशेष बल दिया है। यही 'सार्थकता' उनकी रचना प्रक्रिया और चिंतनधारा का आधार है। व्यक्ति, जाति, वर्ग, समाज, देश के प्रति उनकी दृष्टि सजग और सचेत है। भारत में घर कर रहे आतंकवाद, पूंजीवाद, सामन्तवाद का अश्लील चेहरा है। रघुवीर सहाय अपनी कविता के माध्यम से उन चेहरों पर प्रहार करते हैं। लोकतंत्र का असली चेहरा जनता के सामने लाते हैं। यह लोकतंत्र अपना नकली मुखौटा उतारकर जनमानस के सामने आ जाता है। रघुवीर सहाय अपने समय की अमानवीय और जनविरोधी नीतियों के प्रतिपक्ष में खड़े होने वाले कवि हैं। साथ ही साथ, वंचितों, असहायों, स्त्रियों, दलितों, मजदूर–किसानों के संघर्षों के स्वर में स्वर मिलाते हैं।

संदर्भ सूची :

1. सहाय, रघुवीर, आत्महत्या के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ:73.
2. शर्मा, सुरेश, रघुवीर सहाय का कवि कर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ:61.
3. कुमार, विजय, साठोत्तरी हिंदी कविता परिवर्तित दिशाएँ, प्रकाशन संस्थान, पृ:199.
4. सहाय, रघुवीर, आत्महत्या के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ:33–34.
5. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद, समकालीन हिंदी कविता, लोकभारती प्रकाशन, पृ:145.
6. सहाय, रघुवीर, आत्महत्या के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ:79.
7. वही, पृ:75.
8. वही,पृ:13.

UGC Approved Journal No. 49321 Impact Factor : 2.591 ISSN : 0976-6650

Shodh Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal

Vol. 10, No. 9 Year - 10 September, 2019

PEER REVIEWED JOURNAL

Editor in Chief
Prof. Abhijeet Singh

Editor
Prof. Vashistha Anoop
Department of Hindi
Banaras Hindu University
Varanasi

Dr. K.V. Ramana Murthy
Principal
Vijayanagar College of Commerce
Hyderabad

Dr. Anil Kumar
Assistant Professor, Department of History
Rajdhani College, University of Delhi

Published by
SRIJAN SAMITI PUBLICATION
VARANASI
Mob. 9415388337, **E-mail :** shodhdrishtivns@gmail.com, **website :** shodhdrishtijournal1.com

विषयानुक्रमणिका

☛	ग्रामीण नेतृत्व के परम्परागत आधार **डॉ० वीरेन्द्र यादव**	1-6
☛	दलित अस्मिता की राजनीति : एक विश्लेषण **डॉ० प्रवेश कुमार**	7-12
☛	जीवन साथी **राखाराम गुप्ता**	13-14
☛	स्ववित्तपोषित शिक्षक–शिक्षा की दशा एवं दिशा का अध्ययन **डॉ० संजय कुमार राना**	15-19
☛	काव्यप्रकाशव्याख्यायाः मधुमत्याः विशेषता **डॉ० जयकृष्णकरः**	20-22
☛	Socio-Economic Frame Work of Women Empowerment **Dr. Sinshupa**	23-28
☛	Indus Water Treaty between India and Pakistan **Dr. H.L. Sharma**	29-32
☛	Impact of Zonal Changes on Quality of Tussar Yarn **Dr. Kumari Nivedita**	33-35
☛	Role of Education in Women Empowerment **Anita Singh & Dr. Arun Kant Singh**	36-40
☛	पूर्व मध्यकाल के पूर्व वर्ण व्यवस्था : एक परिचय **डॉ० योगेश कुमार गुप्ता**	41-46
☛	छायावादोत्तर कविता की ज़मीन **डॉ० उपमा राय**	47-50

UGC Approved Journal No. 49321 Impact Factor : 2.591
Shodh Drishti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 9, September, 2019 ISSN : 0976-6650

छायावादोत्तर कविता की ज़मीन

डॉ. उपमा राय
पोस्ट-डॉक्टोरल अध्येता, हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

छायावादोत्तर काव्यधारा से पूर्व सन् 1936 के पहले भारतीय जनमानस ने दो बड़े आन्दोलनों में हिस्सा लिया था- एक असहयोग आन्दोलन (1920-1922) और दूसरा सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-1934)। इन दोनों आन्दोलनों के प्रति अंग्रेजी शासन का कठोर निर्णय था फिर भी भारतीय जनता की मानसिकता बन चुकी थी कि जब तक हम अपने अधिकार स्वराज्य के लिए संघर्ष नहीं करेंगे, हमें जीवित नहीं छोड़ा जायेगा। अंग्रेजी शासन की कूटनीतिक चालों का परिणाम यह था कि भारतीय जनमानस दरिद्रता, अविश्वास, अज्ञान और अभाव का जीवनयापन कर रही थी। वह हमारे ही देश में शासन अपने देशहित को ध्यान में रखकर कर रहे थे। अपने फायदे के लिए भारतीय जनमानस का भरपूर शोषण व दमन किया जा रहा था। इन सबसे भारतीय नेताओं के मन में आक्रोश व विरोध पनप रहा था और वे दो आन्दोलनों के विफल होने पर भी हार नहीं माने बल्कि अपने दल को और अधिक मजबूत बनाने का सक्रिय प्रयास कर रहे थे। अप्रैल 1936 के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन की अध्यक्षता पं. जवाहर लाल नेहरू ने की जिसमें उन्होंने समाजवादी तथ्यों की घोषणा को फासीवाद और प्रतिक्रियावाद के विरोध में भारतीय जनता के संघर्ष को सामने रखा। साथ ही, विरोधी शक्तियों के प्रति व्यापक जनमोर्चा या 'संयुक्त जनमोर्चा' बनाने का प्रस्ताव रखा, आगे चलकर पाँच-छः वर्षों में जनसंघर्ष मोर्चा संगठन मजबूत स्थिति में था। उस समय तक मजदूर वर्ग की शक्ति बढ़ चुकी थी। जिसका प्रभाव नेताओं व बुद्धिजीवियों पर भी दृष्टिगोचर हो रहा था।

इसके अतिरिक्त 1925 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का भी गठन हुआ। इस दशक में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग पर साम्राज्यवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा जिसके चलते सन् 1936 में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई जिसकी अध्यक्षता मुंशी प्रेमचंदजी ने की और इसके साथ ही हिन्दी साहित्य जगत में प्रगतिवादी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसका मूल उद्देश्य शोषित वर्ग को उसके अधिकार प्राप्ति के संघर्ष में सहायक होना था।

इस अधिवेशन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसके प्रचार-प्रसार से भारतीय नवयुवकों की महत्ता बढ़ी। राजनीति और साहित्य में नवयुवकों को पहली बार नेतृत्व का अवसर मिला। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, आदि कवियों के काव्य में इन नवयुवकों की मौज और मस्ती के मूल्य को स्थान मिला है। रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा अन्य कवियों ने राष्ट्रीय, सांस्कृतिक काव्यधारा के रूप में काव्यसृजन किया। 'तारसप्तक' में भारतभूषण ने लिखा है-

लो क्षितिज के पास
वह उठा तारा, अरे, वह लालतारा, नयन का तारा हमारा,
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास।[1]

22-23 फरवरी, 1936 को पूर्णिया में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में मुंशी प्रेमचंद जब भाषण देकर घर लौटे तो उन्होंने अपनी डायरी में इकबाल की जनवादी चेतना भरी एक कविता नोट की और साहित्य के सामाजिक दायित्व पर एक नये सिरे से विचार किया-

"कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है तो वह बेजार है। आप हाला बांधे या तंत्री के तार या बुलबुल और कफस, उसमें जीवन को तड़पाने वाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आंसू बहाने का वह जमाना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियां खो दीं, विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हजरत इकबाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डाल दें। देखिए इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फरियाद कराई है और उसका खुदा पर कितना असर होता है। वह अपने फरिश्तों को हुक्म देता है:

उट्ठो मिरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो
काख़-ए-उमरा के दर ओ दीवार हिला दो
गर्माओ ग़ुलामों का लहू सोज़-ए-यक़ीं से
कुन्जिश्क-ए-फ़रोमाया को शाहीं से लड़ा दो
सुल्तानी-ए-जम्हूर का आता है ज़माना
जो नक़्श-ए-कुहन तुम को नज़र आए मिटा दो।[2]

देश में ही नहीं साहित्य में भी जनवाद की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी। उस समय साहित्य में पुरातन को मिटा देने व नूतन का आह्वान करने की भावना बलवती हुई। प्रेमचंद उस दौर में भारत के उन बुद्धिजीवियों और रचनाकारों के एकजुट होने के अंत: सूत्र बन रहे थे जो फासिज्म विरोधी ओर साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका अदा कर रहे थे। पेरिस में अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन होने के बाद अब ब्रसेल्स में 1936 में विश्व-शांति सम्मेलन का आयोजन था। भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के प्रतिनिधि के रूप में पं. नेहरू ब्रसेल्स में भारतीयों की आवाज पहुँचा रहे थे। तो फिर देश के विचारक व बुद्धिजीवी वर्ग कैसे पीछे होता वह भी अपने साहित्य सृजन द्वारा जनता की आवाज बन रहा था। इस शांति महायज्ञ में रोम्यां रोलां और हेनरी बारबूज अग्निहोत्र जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति क्रियाशील थे। वहीं प्रेमचंद, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामानंद चट्टोपाध्याय, नंदलाल बसु, प्रफुल्लचंद्र राय, जवाहरलाल नेहरू आदि के दस्तखतों को लेकर एक घोषणा-पत्र ब्रसेल्स भेजा गया। उस घोषणा-पत्र में पहले तो ब्रिटिश शासन द्वारा लेखकों और पत्रकारों पर हुए जुल्म, अत्याचार व दमन की निंदा की गई, सेंसर और कस्टमवालों की निंदा की गई और उसके पश्चात कहा गया था-

''महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मंडरा रही है। फासिस्ट तानाशाही खाने के बदले अस्त्र संग्रह करके और संस्कृति के सुयोग के बदले साम्राज्य मठन के प्रलोभन को पकड़कर अपना सैनिकवादी रूप दिखला रही है। अबिसिनिया को पदावनत करने के लिए इटली ने जिन सब पद्धतियों का सहारा लिया है, उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगों को गहरा धक्का लगा है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वंद्विता और परस्पर विरोध, संकीर्ण राष्ट्रवादी मनोवृत्ति को मनचाहा बढ़ावा, लड़ाई के सामानों की तेजवृद्धि- ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना हैं। इस समय हम अपनी ओर से और देशवासियों की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाए। युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी हैं क्योंकि हम जानते हैं कि आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वंस हो जाएगा।''[3] 1936 में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसी समय लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई,''ऐसी स्थिति में 1936 में लखनऊ अधिवेशन का सभापतित्व गांधीजी के हाथ में जाना कांग्रेस के हित में नहीं था। नौजवानों में कांग्रेस की रही सही लोकप्रियता भी घट जाती। अत: पं. जवाहरलाल नेहरू से ही यह आशा की जा रही थी कि वे नए और पुराने, गांधीवाद और कम्युनिज्म के बीच सेतु का काम करें ओर इस तरह वे आश्चर्य जनकरूप में लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए सुयोग्य थे।''[4]

सम्पूर्ण भारत नई ऊर्जा और नई शक्ति से तथा नए नेतृत्व के साथ आजादी की लड़ाई को व्यापक बनाने को व्याकुल था। ऐसे अवसर पर कृषक संगठन का निर्माण हो रहा था, छात्र-संगठन बन रहे थे साथ ही साथ लेखकों व बुद्धिजीवी वर्ग का भी संगठन बन रहा था। गांधीवाद से मोहभंग और समाजवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के वातावरण में हिंदी-उर्दू के साहित्यकारों, बोलियों और प्रादेशिक भाषाओं के रचनाकारों, बुद्धिजीवियों एवं पत्रकारों की एक बहुत बड़ी संख्या ने लखनऊ के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का स्वागत किया। चूँकि इलाहाबाद में बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों तथा पत्रकारों के बीच आपसी जान पहचान व विचारधारा का एकमत न होने के कारण वहाँ प्रगतिशील लेखक संघ का थोड़ी कमजोर स्थिति थी।

"प्रेमचंदजी का प्रगतिशील लेखक संघ में पहला अध्यक्षीय भाषण ऐतिहासिक था। उन्होंने आदर्शवादी सीमाओं के भीतर यथार्थवाद का जो स्वरूप विकसित किया वह समीचीन व सुसंगत रूप ग्रहणकर सामाजिक यथार्थवादी विचार प्रणाली के रूप में नई युवा पीढ़ी को आकर्षित करने लगा था, "प्रेमचंद ने कहा कि साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। पहले के साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके मनमाना तिलिस्म बांधा करते थे। कवियों पर व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। कवि मंडली श्रृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति में लिप्त थी। पर यह उन लोगों ने नहीं देखा कि श्रृंगारिक मनोभाव मानवजीवन का अंग मात्र है। जाति के जीवन को जड़ता और ह्रास के पंजे से मुक्त करने के लिए आज साहित्यिक रूचि बड़ी तेजी से बदल रही है। दलित, पीड़ित और वंचित की हिमायत करने के लिए जो लिखता है, वह समाज की न्यायवृत्ति और सौंदर्यवृत्ति को जाग्रत करता है और उसमें ही वह अपने प्रयत्न को सफल समझता है।''[5]

इस इतिवृत्त की रोशनी में प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन का संगठन के स्तर पर आरंभ किस तरह हुआ, यह स्पष्ट है। जनेश्वर वर्मा का मत है कि "प्रगतिशील आंदोलन का आरंभ 1936 से माना जाना गलत है। उनका निश्चित मत है कि प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि उसके समानांतर चलने वाली साहित्यधारा है। प्रगतिवाद छायावाद के जन्मकाल से ही उसके साथ-साथ विकासशील रहा है। रूस की समाजवादी क्रान्ति और भारतीय राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव स्वरूप सन् 1918 से भारतीय जनजीवन में भी आत्मविश्वास वर्गचेतना, मानववाद और जनजागृति की लहर आई, प्रगतिवाद का आरंभ 1918 से मानना चाहिए और हिन्दी काव्य के क्षेत्र में गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' को उसका आदिप्रवर्तक मानना चाहिए।''[6]

आगे वे लिखते है, ''यह ठीक है कि आरंभ में प्रगतिवादी धारा बहुत निर्बल थी परंतु जैसे-जैसे देश में राजनीतिक चेतना का विकास होता गया और समाजवादी आंदोलन शक्ति संचय करते गए वैसे ही प्रगतिवादी धारा भी प्रबल होती गई और सन् 1936 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ उसने छायावाद पर अपनी विजय की घोषणा कर दी।''[7]

सन 1946 में ही 'कश्मीर छोड़ो' आंदोलन के सिलसिले में कश्मीर के राजा हरिसिंह और ब्रिटिश सरकार के द्वारा कांग्रेस, कम्युनिस्ट और शेख अब्दुल्ला की पार्टी नेशनल कान्फ्रेंस का जबरदस्त दमन शुरु हो गया था। रियासत के नरेश ने हर जगह किसान आंदोलन को दबाना प्रारंभ कर दिया था। कश्मीर के जनवादी आंदोलन के इस दमन के विरुद्ध बंबई में ही नहीं, बल्कि भारत के अन्य हिस्सों में भी जनता का क्रोध भड़क उठा। कम्युनिस्ट पार्टी ने इस मौके पर अनेक जगहों में कश्मीर आंदोलन की सहायता के लिए सांस्कृतिक समारोह आयोजित किए। इस प्रकार के सांस्कृतिक समारोह का एक उदाहरण 28 जुलाई को बंबई में आयोजित सांस्कृतिक उत्सव था। उस दिन जननाट्य संघ के मंत्री बलराज साहनी द्वारा लिखित और निर्देशित 'मशाल' नाटक खेला गया। उसके अलावा जोश मलीहाबादी की क्रांतिकारी कविता, अमरशेख की कविता, कामरेड गवाणकर के जत्थे द्वारा मजदूर कवि अभाभाऊ, साठे का पवाड़ा और प्रेम धवन के द्वारा बैल आदि-बहुरंगी सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए।

जून 1946 में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे। अंग्रेजों की चाल यह थी कि जनक्रांति की शक्तियों को विभाजित कर, खूनी दंगे भड़का कर हिंदुस्तान के दो टुकड़े कर दिए जाएं और दोनों देशों में सुधारवादी नेतृत्व को राजसत्ता सौंप दी जाए। उनकी इसी चाल का परिणाम यह दंगा था। देश के कोने-कोने में दंगे की छिटपुट घटनाएँ होती रहती थीं। इन दंगों ने बंगाल के नोआखाली इलाके में भयंकर रूप ले लिया। भाई-भाई के बीच खून की होली का यह विचित्र जमाना था जब हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग सीधी कारवाई पर उतर आई थी।

देश दो हिस्सों में बंट गया। जघन्य हत्याकांड के बीच 15 अगस्त 1947 के दिन माउंटबेटन योजना की अनेक धाराओं के अधीन आजाद भारत की नई शासन व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। प्रगतिशील लेखक संघ भयंकर विचारमंथन के दौर से गुजर रहा था, एक हिस्सा कहता था देश 'आजाद' हो गया, दूसरा कहता था, 'औपनिवेशिक स्वराज्य' हुआ है। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में अखिल भारतीय हिंदी प्रगतिशील लेखक संघ का सितंबर 1947 के महीने में इलाहाबाद में विशाल अधिवेशन हुआ। यहां पर एक सूचना आवश्यक है कि सितंबर 1947 में इलाहाबाद में हुए विशाल प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन से पूर्व 3 और 4 मई 1947 को लखनऊ में युक्तप्रांतीय प्रगतिशील लेखक संघ की हिन्दी शाखा की प्रांतीय समिति की एक बैठक हुई थी। जिसमें हिंदी प्रगतिशील लेखक संघ के कार्यों का लेखा-जोखा रखा गया था और भावी कार्यनीति एवं कार्यक्रम तय किए गए थे। इसी बैठक में सितम्बर 1947 में अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन करने और इस सम्मेलन के लिए धनराशि इकट्ठा करने का निश्चय किया गया तथा अखिल भारतीय हिंदी प्रगतिशील लेखक कांफ्रेंस के लिए 15 विषय चुने गए और 15 अगस्त तक उनको प्रकाशित करने की बात तय की गई। अखिल भारतीय प्रगतिशील हिन्दी लेखक सम्मेलन के प्रधानमंडल में तीन लेखकों को चुना गया-शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, पहाड़ी और नेमिचंद्र जैन के सहयोग से अखिल भारतीय प्रगतिशील हिंदी लेखक सम्मेलन का विधान तैयार करने का निर्णय हुआ था। इस बैठक में शिवदानसिंह चौहान, डॉ- रामविलास शर्मा, पहाड़ी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, साहब सिंह मेहरा, अमृतराय, कृष्ण कुमार, यशपाल और नेमिचंद्र जैन उपस्थित थे। निराला, पंत और उग्र भी अपनी रचनाओं में रोमानी अंतर्वस्तु और कटुयथार्थबोध को अभिव्यक्ति देकर नयी सामाजिक चेतना को प्रस्तुत कर रहे थे। इनके पीछे वास्तविक कारण स्वतः स्फूर्त प्रेरणाएँ ही थीं जोकि वर्तमान समाज के बदलते स्वरूप व तेवर तथा जनसंघर्ष की वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण थी।

''बादलराग' और 'जागो फिर एक बार' के कवि निराला बैसवाड़े के किसानों को संगठित करने में कुछ दिनों के लिए जुट गए थे। वे भगतसिंह की क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे, दूसरी ओर नेहरू की वामपंथी विचारधारा में उस समय आस्था रखते थे और राष्ट्रीय आजादी को सामाजिक क्रांति से अभिन्न समझते थे। यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में नवीन परिवर्तन को वे सामाजिक क्रांति से जोड़ते थे। सन् '35 में ही निराला ने 'सुधा' में लिखा है, "क्रांति साहित्य की जननी है। नवीनता तभी पैदा होती है, और साहित्य का रथ कुछ कदम आगे बढ़ता है। इसे ही जीवन भी कहते हैं। ऋतु के बदलने पर पृथ्वी जिस तरह एक नये रूप से सजती है उसी तरह क्रांति-जन्य नवीनता से साहित्य।''[8]

इस प्रकार प्रगतिवादी आंदोलन यथार्थवादी प्रयासों और लगावों को एक मंच पर संयुक्त कर आगे के लिए पथ-प्रदर्शक बना। मार्क्सवादी व गैरमार्क्सवादी लेखकों की जनवादी एकता का आधार सामाजिक चेतना थी। यह कुछ लेखकों को स्वतः स्फूर्त व कुछ को मार्क्सवादी साहित्य व कुछ के कम्युनिस्ट पार्टी की प्रेरणा से सचेत रूप में प्राप्त हुई थी। इस प्रकार सभी समाजोन्मुखी रचनाकार एकजुट होकर कार्यरत थे। इस संबंध में अज्ञेय ने कहा था, ''आरंभ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्ति के लोग थे, जिनको साथ मिलाने वाली भावना वस्तुस्थिति के प्रति एक संदेह की भावना थी। सुधारवाद या कि प्राचीन संस्कृति की पुनः स्थापना का स्वप्न पर्याप्त नहीं है, और इससे अधिक भी कुछ होना चाहिए। लेखक को भी नेताओं का मुंह न जोहकर स्वयं कार्यात्मक रूप से कुछ करना चाहिए। सामान्यतः ऐसा मानने वाले सभी लेखक प्रगतिशील आंदोलन की ओर आकृष्ट हुए, क्योंकि वह आंदोलन उनकी उदात्त भावनाओं के लिए नया क्षेत्र प्रस्तुत करता जान पड़ता था। किंतु क्रमशः प्रगतिशील आंदोलन में 'शील' को स्थान 'वाद' ने ले लिया। जिनके नाम और

प्रतिष्ठा के आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ संगठित हुआ और पनपता रहा, वे एक-एक कर उससे अलग हो गए या अलग कर दिए गए।''[9]

अतः छायावादोत्तर काव्यधारा का प्रारम्भ प्रगतिशील आन्दोलन की अवधि से ही माना जाता है। इस संदर्भ में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है, ''जीवन के निम्नतम तथा तिरस्कृत स्तरों का स्पर्श सम्भवतः प्रथम बार प्रगतिवादी साहित्य ने किया था। कटु यथार्थ का आग्रह उसकी अपनी विशेषता थी। हिन्दी की नयी कविता ने इस विशेषता को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। प्रगतिवाद में जिस व्यापक मानवीय सहानुभूति की ओर संकेत था, वह नवलेखन में कुछ और पुष्ट हुई है, साथ ही उसमें जीवन के प्रति एक सन्तुलित भाव भी जागृत हुआ है। इस दृष्टि से प्रगतिवाद के रचनात्मक तत्वों का अधिकाधिक परिष्करण नवलेखन में हो सकता है, तब तो दुविधा के लिए और भी गुंजाइश नहीं रह जाती।''[10]

सामाजिक यथार्थ वह वास्तविक आधार है समाज का जो विभिन्न रूपों और रंगों में कहीं सीधी-सपाट, कहीं उलझी-सिमटी तो कहीं हमारे चौतरफा विराट विस्तार में, हमारी समस्त बुद्धिमत्ता, ज्ञानेन्द्रियों, इन्द्रियबोध व भावात्मक तथा विचारात्मक विचारों का सम्प्रेषण हमारी सतत जागरूक इच्छा व मनोदशा का फैला स्वरूप है। यह वह वास्तविक प्रतिबिम्ब है जो प्रतिक्षण परिवर्तित होते समाज का रूप है। यह स्थिर वास्तविकता न होकर एक परिवर्तित गतिशील वास्तविकता है।

छायावादोत्तर काव्यान्दोलन में काव्यसृजन की प्रक्रिया प्रयोगवादियों तथा नयी कवितावादियों के हाथ में ही थी परन्तु तारसप्तक के भीतर व बाहर के भी कुछ रचनाकारों ने समसामयिक घटनाओं व उस दौर में आवाज ही नहीं उठायी बल्कि उन रचनाकारों ने वास्तविकता के प्रति आक्रामक व आक्रोशपूर्ण सृजन भी किया तथा उन पहलुओं को भी उजागर किया जिससे देश की जनता व जनमानस संघर्ष कर रही थी।

सामाजिक यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति के साथ प्रगतिशील कविता का आविर्भाव हुआ इस युग की कविता वास्तविकताओं की आँच में तपी-निखरी एक मजबूत स्वरूप लेकर उभरी। इसके साथ ही जीवन और समाज के संघर्षों, अन्तर्विरोधों को बखूबी चित्रित किया है। छायावादोत्तर काव्य ने सामाजिक यथार्थबोध का सफल, चित्रण कवियों की रचनाओं में मिलता है। क्योंकि कविता में ही नहीं रचनाकार स्वयं जीवन के अनुभव, व यथार्थ, संघर्ष को स्वयं भोगा व अपनी कविता का विषय बनाया नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा जैसे साहित्यकार गाँव कस्बों तथा नगरों के जीवन में घुले मिले थे, और अपनी वास्तविक जिन्दगी व समाज की कुछ बड़ी प्रामाणिक छवियाँ अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। आगे चलकर इसी परिपाटी को मुक्तिबोध जैसे कवियों ने आधुनिक जीवन की यथार्थ वस्तुस्थिति को काव्य में अभिव्यक्त किया। सन् 1936 के बाद यह चक्र पूरा होता हुआ नयी युवा पीढ़ी कवियों को अन्दर और बाहर से व्यापक तौर पर आधुनिक युगबोध तथा काव्यबोध की प्रशस्त लीकों पर प्रेरणा प्रदान की।

संदर्भ :

1. अग्रवाल,भारतभूषण, http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%97%E0%A4%A4%E0%A5%87_%E0%A4%AB0%E0%A4%B9%E0%A5%8B_/_%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%A4_%E0%A4%AD%E0%A5%82%E0%A4%B7%E0%A4%A3_%E0%A4%85%E0%A4%97%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%B5%E0%A4%BE%E0%A4%B2
2. इकबाल, https://www.rekhta.org/nazms/farmaan-e-khudaa-utho-mirii-duniyaa-ke-gariibon-ko-jagaa-do-allama-iqbal-nazms?lang=hi
3. राय, अमृत, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ: 645.
4. सीतारमैया, पट्टाभि, द हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड-2, 1935-47, पद्मा प्रकाशन, बम्बई, 1947.
5. अवस्थी, रेखा, प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ:32-33.
6. जनेश्वर, वर्मा, हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, आराधना प्रेस, कानपुर, पृ:305-306.
7. वही, पृ: 306.
8. निराला, उद्धृत, निराला की साहित्य साधना-2 (लेखक-रा.वि.शर्मा), राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,पृ: 132.
9. आधुनिक हिंदी साहित्य, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, पृ:32.
10. मिश्र, शिवकुमार, आधुनिक कविता और युग-दृष्टि, विद्या मंदिर प्रकाशन, वाराणसी पृ: 139.

× ※ ×

Reg. No. 694/2009-10 Impact Factor : 5.029 ISSN : 2250-1193

Anukriti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal

Vol. 10, No. 1 Year-10 January, 2020

PEER REVIEWED JOURNAL

Editor in Chief
Prof. Vijay Bahadur Singh
Hindi Department
Banaras Hindu University
Varanasi

Editor
Dr. Ramsudhar Singh
Ex Head, Department of Hindi
Udai Pratap Autonomous College
Varanasi

Published by
SRIJAN SAMITI PUBLICATION
VARANASI (U.P.), INDIA
Mob. 9415388337, **E-mail :** anukriti193@rediffmail.com, **Website :** anukritijournal.com

Reg. No. 694/2009-10
Anukriti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 1, January, 2020
Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

CONTENTS

⌐	NPAs in Scheduled Commercial Banks: A Trend Analysis **Sanjeev Kumar Singh & Dr. Meera Singh**	1-6
卐	विशिष्ट बी0टी0सी0 कार्यक्रम के प्रति बी0एड0 एवं एम0एड0 प्रशिक्षणार्थियों की सामाजिक अभिवृत्ति का अध्ययन **डॉ0 आशीष कुमार उपाध्याय**	7-10
卐	Role of Micro, Small and Medium-sized Enterprises (MSME) in Indian Economy **Neha Gupta & Mansoor Ali**	11-16
卐	A Glance on Child Abusements **Miss Nisha Chadda**	17-20
卐	Deficiency Symptoms of Essential Elements **Dr. Brahmadeo Upadhyaya**	21-22
卐	वास्तुशास्त्रीय भूमेविज्ञानम् **डॉ0 नरेशशर्मा**	23-28
卐	Principles of *vrikshayurveda* Mentioned in Ancient Indian Literature **Dr. Dinakar Marathe**	29-34
卐	Pre-Independence Theater in India: Telugu Theater Scenario **Dr. Govindaraju Bharadwaza**	35-40
卐	Major Challenges of Indian Health Care System (Various Aspects of Its Micromanagement) **Pathak Shriman Narayan & Dr. Manoj Kumar Mishra**	41-45
卐	हरियाणा प्रदेश में गैर सरकारी संस्थाओं का सांगीतिक योगदान : एक अवलोकन **डॉ0 सुप्रिया शर्मा**	46-48
卐	ई–लर्निंग की अवधारणा एवं चुनौतियां **डॉ0 संजय कुमार राना**	49-51
卐	कथक नृत्य का मुगलकालीन ध्रुवपद–स्वरूप **प्रो0 वंदना चौबे एवं राखी शर्मा**	52-56
卐	Inside the Judicial Mind : A Judge on Decision Making **Atibha Vijaya Singh**	57-60
卐	A Study on the Present Situation of the Physical Resource Management in English Classrooms at Higher Secondary Schools **Pooja Kushwaha**	61-68
卐	प्राचीन भारत में शिवपूजा के प्रचलन में राजाओं का योगदान **डॉ0 प्रभाकर लाल**	69-71

Reg. No. 694/2009-10
Anukriti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 1, January, 2020

Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

15	मानव–जीवन : युद्ध और शांति **डॉ० उपमा राय**	72-74

Reg. No. 694/2009-10
Anukriti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 1, January, 2020
Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

मानव-जीवन: युद्ध और शांति

डॉ. उपमा राय
पोस्ट-डॉक्टोरल अध्येता, हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

मानव सभ्यता के विकास के क्रम में समूहों के निर्माण और उत्पादन के साधनों पर अधिकार की भावना ने क्रमश: युद्धों को जन्म दिया। युद्ध को अधिकार, धर्म, अस्तित्व और अस्मिता से जोड़ा गया। सत्ता के निर्माण ने भी मनुष्य को युद्ध के लिए प्रेरित किया। हमारे मिथकों और गल्पों में भी युद्ध की विभीषिका का वर्णन मिलता है। ये युद्ध स्मृतियों से होते हमारी श्रुति परम्परा के अनिवार्य अंग बन गये। मनुष्य में सभी वर्चस्व स्थापित करने के लिए युद्ध किया तो कभी वर्चस्व की समाप्ति के लिए युद्ध में हिस्सेदारी की। कुल मिलाकर हितों के टकराव की स्थिति में ही युद्ध किया गया। इन हितों को अलग-अलग रूपों में व्याख्यायित किया और युद्ध को सत्य एवं न्याय संगत सिद्ध किया गया। जबकि सच्चाई यह है कि मनुष्य ने मनुष्य के खिलाफ युद्ध किया और इसका परिणाम भी स्वयं मनुष्य ने ही भुगता। युद्ध को मनुष्य की वीरता के साथ-साथ उसके जीवन का अनिवार्य अंग बना दिया गया। वह अलग धर्म, जाति, समुदाय, क्षेत्र, भाषा, राज्य, नस्ल आदि-आदि के नाम पर युद्धरत रहा। विकास के प्रत्येक चरण में युद्ध की यह विभीषिका अलग-अलग रूपों में हमारे सामने आती रही और मनुष्य की विकसित बुद्धि उसे न्यायोचित ठहराने लिए अलग-अलग तर्कों का इस्तेमाल करती रही। यह अकारण नहीं है कि 'धर्मयुद्ध' जैसे पारिभाषिक शब्द का उदय हुआ। युद्ध में कम से कम दो पक्ष अवश्य होते हैं और दोनों ही पक्ष अपने युद्ध की अनिवार्यता का महिमामंडन करते हुए कहते हैं कि वे युद्ध 'धर्म की रक्षा' के लिए रहे हैं। पहले धर्म का आशय सत्य और न्याय से था लेकिन कतिपय अंतराल के बाद धर्म का आशय अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं से हो गया। मनुष्य ने अपनी-अपनी भाषाओं में ईश्वर को गढ़ा और उस ईश्वर के लिए युद्ध करने लगा। ये समय-सापेक्ष शब्दावलियाँ थीं जिन्होंने मनुष्य को हिंसा और रक्तपात के लिए प्रेरित किया। रामायण और महाभारत के पाठ-भेद या अलग-अलग व्याख्याएं भी इन तथ्यों की पुष्टि करती हैं। जब महाभारत में दुर्योधन ने पांडवों द्वारा केवल पांच गांवों के मांगने पर कहा कि "सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव"; तब उसने युद्ध की जमीन तैयार कर दी। लेकिन यहीं पर हमें यह समझना होगा कि राज्यसत्ता के अविर्भाव ने ही गांवों की गुलामी और उन पर शासन करने की प्रणाली को जन्म दिया। यह युद्ध सत्ता की स्थापना और अहं के टकराव को अभिव्यक्त करता है। शासन और धर्म की स्थापना के सिद्धांतों ने मनुष्य के शांत जीवन में युद्ध नींव डाली। मनुष्य जब सामाजिक रूप से संगठित हो रहा था, तो जैसे-जैसे उसकी सामाजिकता और संख्या में वृद्धि होने लगी तथा उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य का प्रयास होने लगा तब से व्यक्ति और सामाजिक स्तर पर द्वन्द्व की स्थिति बनने लगी। आधिपत्य की यह वृत्ति पृथ्वी के सभी प्राणियों में होती है या पायी जाती है। मनुष्य के अतिरिक्त शेष प्राणियों में यह सीमित क्षेत्र या अल्पकालिक होती है। जबकि मनुष्यों में यह वर्चस्व सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व भौगोलिक वर्चस्व के स्थापना पर बल देती है।

सामाजिक विकास के आरंभिक चरण में ही मनुष्य आजीविका के साधनों के लिए संघर्षरत था। और उत्तरोत्तर विकसित होते समाज में कबीलों के नेतृत्व भाषाई और सांस्कृतिक श्रेष्ठता बोध, कृषि योग्य भूमि पर आधिपत्य समाज-निर्माण के दौरान उत्पन्न सांस्कृतिक श्रेष्ठता बोध रक्त गोत्र की शुद्धता को बनाये रखने के लिए भी संघर्षरत हुआ। आजीविका के लिए भी संघर्षरत हुआ। आजीविका के लिए और अपनी रक्षा के लिए मनुष्य ने जो हथियार विकसित किए वे लौह युग तक आते-आते द्वन्द्व के अथवा युद्ध प्रमुख कारण हो गये। हथियारों के विकास का जो ऐतिहासिक कालक्रम है मात्रा उसके अध्ययन से ही हम द्वन्द्व या युद्ध की स्थिति को लेकर कई परिणाम निकाल सकते है। हथियारों के विकास ने मनुष्य को जितना आविष्कारी बनाया और सभ्यता के सतत विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया वह भी उल्लेखनीय है, लेकिन ये हथियार सभ्यता के विकास के सहायक यंत्र हो तब तक ठीक है परन्तु युद्ध के औजार के रूप में प्रयोग कई बार मानव सभ्यता की इतिश्री की ओर भी ले जाता है।

वाल्टर बेंजामिन के एक कथन "सभ्यता का हर दस्तावेज बर्बरता का भी दस्तावेज होते है" से मानव जाति की सभ्यता और उसकी बर्बरता की समानांतर कहानी को जान व समझ सकते हैं। आत्मरक्षा के लिए बने हथियार युद्ध के औजार के रूप में कब परिवर्तित हो गये यह देखना भी काफी दिलचस्प होगा।

मानव जाति ने व्यक्ति के और सामाजिक स्वार्थों के चलते आवी युद्ध की स्थितियों या हो चुके युद्धों के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए तर्क के आवरण में ढकने की कोशिश की है। युद्ध के निषेध और युद्ध की अपरिहार्यता के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक न्यायपरक तर्क व विश्लेषण भी हमारे मिथकों, पुराणों और धर्मग्रंथों में मिलता है। उपर्युक्त युद्ध की कथनों को परिपुष्ट करते हुए रोमिला थापर का यह कथन प्रासंगिक है, ''श्रमिकों में कभी-कभी गुलाम बनाए गए वे लोग भी शामिल हो सकते थे जिन्हें

किसी हमले के बाद बंदी बना लिया गया हो, वे भी हो सकते थे जो कुल के सदस्य नहीं थे। सरदार तंत्र का राजतंत्र में परिवर्तन या राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण प्रारम्भिक किस्म के प्रशासन, राजस्व तथा अन्य अपेक्षित बदलावों के फलस्वरूप राज्य का उदय सामान्यतः किसानों द्वारा स्थिर तौर पर की जाने वाली खेती पर अधिक निर्भर होता था।''[3]

परिवार राज्य और निजी सम्पत्ति के क्रमिक विकास के साथ ही मनुष्य ने विभिन्न संस्थाओं का भी निर्माण किया। उत्तरोत्तर काल में मनुष्य के विश्वास और मान्यताएँ, परम्परा, धर्म का स्वरूप ग्रहण करती गई, अपने समूह, स्वामित्व, धर्म, संस्कृति, राजनीति की रक्षार्थ और दूसरे समूहों, सम्पत्तियों तथा अनान्य कारणों से भी युद्ध होते गए। राजनीतिक कारणों से भीषण और प्रचण्ड युद्ध हुए तो धर्मयुद्ध और नीतियुद्ध से भी मानव समाज रक्तरंजित होता रहा। संख्या बल में वृद्धि होने के कारण स्वामित्व और अधिकारों को लेकर एक ही समूह या पारिवारिक जनों में भी युद्ध हुआ। महाभारत और रामायण जैसे ग्रन्थ भी युद्ध की इन प्रवृत्तियों के द्योतक रहे हैं। यहाँ तक कि कुरुक्षेत्र शब्द मानव युद्ध के मिथक के रूप में उभरकर सामने आ गया। जिसे आज भी इसी अर्थ में व्यवहरित किया जाता है। गीता के प्रथम श्लोक को ही लें तो युद्ध से दो चार होती मानव सभ्यता की व्यथा उभरकर सामने आ जाती है। जब दृष्टिहीन धृतराष्ट्र के भीतर भी यह प्रश्न उभरता है कि-

"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव:। मामका: पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय"[4]

इस आलोक में देखे तो अलग-अलग कारणों, तर्कों, और प्रकारों से मनुष्य मध्यकाल में भी युद्ध से आक्रान्त रहा है। विजय और पराजय की निराशा और उल्लास के बीच बार-बार यह प्रश्न खड़ा होता है कि युद्ध से दुनिया की कौन-सी समस्याएँ सुलझ गई और कौन-सा युद्ध समस्याओं के सुलझाव का युद्ध रहा है। युद्ध से समस्याएँ घटी नहीं अपितु समस्याओं को और बढ़ावा मिला तथा स्थिति और विकट होती जाती है। मनुष्य ने युद्ध के जितने भी कारण और तरीके का इलाज किया जो सब के सब विनाशकारी व भयकारी ही साबित हुए। इस युद्ध से मानव समाज को बहुत बड़ी क्षति का सामना करना पड़ता है, जो मानव व समाज दोनों के लिए हितकारी नहीं है। मध्यकाल का इतिहास, पूरब और पश्चिम दोनों को मिलाकर, मानव सभ्यता के विकास के क्रम में आये हुए पड़ाव के समानांतर युद्ध की विभीषिका की निरंतरता के क्रम में भी देख सकते है, जहाँ धर्म और राजनीति केन्द्रीभूत होकर अपने वर्चस्व की स्थापना के लिए लालायित है। आधुनिकता का उदय मनुष्य के जीवन में नये रास्तों को खोलने वाला अंधविश्वासों के स्थान पर तर्कों, धर्म के स्थान पर विज्ञान और ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की स्थापना ने नई उम्मीदों को आश्रय प्रदान किया। स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व जैसे जोरदार नारों ने इन उम्मीदों की ओर भी रवानी प्रदान की। विज्ञान के नये-नये आविष्कारों ने मनुष्य की आदिम वृत्तियों को परास्त करने के स्थान पर उन वृत्तियों की पुर्नसृजन कर दिया। उत्पादन की नई-नई प्रणालियों ''Nation State'' की शब्द प्रसूत अवधारणा से उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों को बल मिला। समूची मानव सभ्यता मानों किसी एक वा दो देश के गुलाम हो गई। आर्थिक मुनाफे और भौगोलिक साम्राज्य विस्तार की लालसा ने जगह-जगह युद्ध को सृजित किया। 'विश्व का जन इतिहास' लिखते हुए क्रिस हरमन ने मनुष्य की शक्ति और प्रकृति पर बढ़ते उसके नियंत्रण को स्वीकार किया है लेकिन बीसवीं सदी के मनुष्य की इस बढ़ती क्षमता को प्रश्नांकित करते हुए लिखते हैं, "इस शताब्दी के दौरान युद्ध, नृशंसता, वंचना और बर्बरता ने भी कीर्तिमान बनाए। यहाँ तक कि उदार दार्शनिक इसाइया बर्लिन को इसे 'पश्चिम के इतिहास की सबसे भयानक शताब्दी' कहना पड़ा। उस शताब्दी के अंतिम दशकों में कुछ भी ऐसा नहीं हुआ कि कहा जा सके कि मानवता की स्थिति जादुई प्रभाव से बेहतर हो गई है। उस दौरान पूर्वी यूरोप में व्यापक बदहाली आई, अफ्रीका में बार-बार अकाल पड़ा और गृह-युद्ध अनन्त हो गये। लातिन अमरीका के आधे लोग गरीबी रेखा के नीचे चले गए। इराक-ईरान युद्ध आठ साल तक चला और दुनिया के सबसे शक्तिशाली देशों ने मिलकर ईराक और सर्बिया को ध्वस्त किया।''[5]

मनुष्य के आपसी टकराव कब आरंभ हुए इस के बारे में बिलकुल ठीक-ठीक पता लगा पाना बेहद कठिन है। यह प्रश्न आज भी उतना ही उलझा हुआ है जितना कि पहले था। मनुष्य एक शांतिप्रिय प्राणी है अथवा युद्धप्रिय? इस के बारे में अनुमान लगाना उतना ही कठिन है जितना कठिन यह पता करना कि पहला युद्ध कब हुआ और किन कारणों से लड़ा गया। इस सब के संबंध में मात्र और मात्र क्यास लगाये जाते हैं कि इन परिस्थितियों में मनुष्य ने युद्ध किया होगा। बहरहाल, यह कहा जा सकता है कि मनुष्य युद्ध और शांति की द्वंद्व में निरंतर यात्रा कर रहा है। युवाल नोवा हरारी 'सेपियंस' में मनुष्य की 'शांति या युद्ध?' की मनोदशा और ऐतिहासिक निष्कर्षों पर इन शब्दों में विचार व्यक्त करते हैं, "अंत में भोजन-खोजी समाजों में युद्ध की भूमिका का तीखा सवाल आता है। कुछ अध्येता शिकारी-संग्रहकर्ता समाजों की शांतिमय स्वर्ग के रूप में कल्पना करते है और तर्क देते हैं कि युद्ध और हिंसा की शुरुआत कृषि क्रांति के बाद ही हुई, जब लोगों ने निजी संपत्ति को संचित करना शुरू कर दिया। दूसरे अध्येताओं का मानना है कि प्राचीन भोजन-खोजियों की दुनिया असाधारण रूप से क्रूर और हिंसक थी। दोनों ही तरह के विचार हवाई किले हैं, जो पुरातात्त्विक अवशेषों और आज के समय के भोजन-खोजियों के मानव वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों के बहुत ही कमजोर किस्म के तंतुओं के सहारे ज़मीनी वास्तविकता से जुड़े हैं।''[6]

वस्तुतः युद्ध मनुष्य की अनिच्छित अनिवार्यता है। वह युद्ध की त्रासदी से भरा हुआ है परंतु युद्ध उसका काम्य नहीं है। शांति की अदम्य लालसा ही उसकी मनुष्यता और उसके विकास की कसौटी है। वह कई के युद्धों के कार्य-कारण संबंध को भी तलाश पाने में स्वयं को अक्षम महसूस करता है। इन्हीं विवशताओं और आकांक्षाओं के बीच मनुष्य अपने विकास के पथ पर अग्रसर है।

संदर्भ :

1. https://books.google.co.in/books?id=QVTXDgAAQBAJ&pg=PA175&lpg=PA175&dq=%E0%A4%B8%E0%A5%82%E0%A4%9A%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%97%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%82+%E0%A4%A8%E0%A5%88%E0%A4%B5+%E0%A4%A6%E0%A4%BE%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%AE%E0%A4%BF+%E0%A4%AC%E0%A4%BF%E0%A4%A8%E0%A4%BE+%E0%A4%AF%E0%A5%81%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%A7%E0%A5%87%E0%A4%A8+%E0%A4%95%E0%A5%87%E0%A4%B6%E0%A4%B5&source=bl&ots=bODw7yHPrG&sig=ACfU3U1lYOCISqwXtegsqYx5bIE4vTsCCw&hl=en&sa=X&ved=2ahUKEwi90aSek9rkAhXGfX0KHQ4ID1cQ6AEwBXoECAkQAQ#v=onepage&q=%E0%A4%B8%E0%A5%82%E0%A4%9A%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%97%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%82%20%E0%A4%A8%E0%A5%88%E0%A4%B5%20%E0%A4%A6%E0%A4%BE%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%AE%E0%A4%BF%20%E0%A4%AC%E0%A4%BF%E0%A4%A8%E0%A4%BE%20%E0%A4%AF%E0%A5%81%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%A7%E0%A5%87%E0%A4%A8%20%E0%A4%95%E0%A5%87%E0%A4%B6%E0%A4%B5&f=false दिनांक :26.7.2019
2. बेंजामिन, वाल्टर, http://assichauraha.blogspot.com/2014/09/ दिनांक :16.5.2019
3. थापर, रोमिला, पूर्वकालीन भारत (प्रारम्भ से 1300 ई. तक), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-2008, पृ. 87.
4. श्रीमद्भगवद्गीता, प्रथम अध्याय, प्रथम श्लोक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ:13
5. हरमन, क्रिस, विश्व का जन इतिहास, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 17.
6. हरारी, युवाल नोआ, सेपियन्स : मानवजाति का संक्षिप्त इतिहास, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, प्रथम संस्करण, 2018, पृ: 69-70.

*